शुभ:पुन्यस्य अशुभ: पापस्य

- सा.श्री महेन्द्रश्री जी म.सा.

शुभस्य पुण्यम्

तत्वार्थ सूत्रकार कहते हैं - शुभः पुम्यरस, अशुभः पापस्य ! शुभभाव से पुण्य बंध और अभ्रम भाव से पाप बंध होता है।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाह सुसलां कह त होदि सुसलीलं जं संसारं पवे से दि. ११ १ ४५ कुदकुन्दाचार्य का कथन है ऐसा जगत जानता है। परन्तु परमार्थ दृष्टि से कहते हैं कि जो प्राणी को संसार में ही प्रवेश कराता है वह कर्म शुभ अच्छा कैसे हो सकता है ?

टीकाकार अमृतन्द्राचार्य कहते हैं - जो शुभ अथवा अशुभ जीव का परिणाम है, वह केवल अज्ञान से एक ही है, उसके एक होने पर कारण का अभेद है इसलिए कर्म एक ही है तथा शुभ अथवा अशुभ प्रदूगल का परिणाम केवल प्रदुगलमय है, इसलिए एक ही है। शुभ अथवा अशुभ मोक्ष का और बन्ध का मार्ग ये दोनों पृथक हैं, केवल जीवमय तो मोक्ष का मार्ग है और केवल प्रद्गलमय बन्ध का मार्ग है। वे अनेक है, एक नहीं है। उनके एक न होने पर भी केवल प्रद्गलमय बन्धमार्ग की आश्रितता के कारण आश्रय के अभेद से कर्म एक ही है।

हुन्कुन्दाचार्य आगे कहते हैं - जैसे लोहे की बेड़ी पुष्प को बांधती है और सुवर्ण को भी बांधती है, इसी प्रकार शुभ अथवा अशुभ किया हुआ कर्म जीव को बांधता ही है। इसलिए दोनों कुशीलों से राग या संसर्ग का निषेध करते हैं। निश्चय से परमार्थ रूप जीव नाम पदार्थ का स्वरूप यह है। जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है - ये जिनके ज्ञान है उस स्वभाव में स्थित मुनि मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

टीकाकार कहते हैं ज्ञान ही मोक्ष का कारण है क्योंकि शुभ अशुभ कर्मरूप है, वह बन्धक का कारण है। अत: मोक्ष की हेत्रता असिद्ध है।

मोक्ष का उपादान कारण आत्मा ही है, सो आत्मा का परमार्थ से ज्ञान, स्वभाव है। ज्ञान है वह आत्मा ही है, आत्मा है वह ज्ञान ही है, इसलिए ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।

'जो जीव परमार्थ से ब्रह्म है, परमार्थ भूतज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं करते वे जीव अज्ञान से पुण्य चाहते हैं व पुण्य संसार के गमन का कारण है तो भी वे जीव मोक्ष का कारण ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानते। पुण्य को ही मोक्ष का कारण मानते हैं।' समयसार १५४

'जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान तो सम्यक्त्व है और उन जीवादिक पदार्थों का अधिगम, वह ज्ञान हैं तथा रागादि का त्याग वह चारित्र है - यही मोक्ष का मार्ग है।' समयसार १५५

टीकाकार कहते हैं - 'मोक्ष के कारण निश्चय से सम्यक दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। जीवादिक पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान स्वाभाव से ज्ञान का परिणाम सम्यक दर्शक है, जीवादिक पदार्थों के ज्ञान स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक ज्ञान है, तथा रागादि के त्याग स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक् चारित्र है। इस कारण ज्ञान ही परमार्थ रूप से मोक्ष का कारण है।'

'सम्यक्त्व मोक्ष का कारण है। उसके स्वभाव का रोकने वाले मिथ्यात्व है, वह स्वयं कर्म ही हैं, उसके उदय से ही ज्ञान को मिथ्यादृष्टित्व है; ज्ञान भी मोक्ष का कारण है, उसके स्वभाव को रोकने वाला प्रकट अज्ञान है, वह स्वयं कर्म ही, उसके उदय से ज्ञान को अज्ञान है; और चारित्र मोक्ष का कारण है, उसके स्वभाव का प्रतिबंधक प्रकट कषाय है, वह स्वयं कर्म है, उसके उदय से ही अचरित्र्य है। क्योंकि कर्म के स्वयंमेव मोक्ष के कारण सम्यकदर्शन ज्ञान चारित्र का तिरोयायित्व है, इसी कारण कर्म का प्रतिवेध किया गया है।' १६१ से १६३

'मोक्ष के चाहनेवालों को यह समस्त कर्म ही त्याग ने योग्य हैं। इस तरह इन समस्त ही कर्म को छोड़ने से पुण्य-पाप की तो बात क्या है, कर्म सामान्य में दोनों ही आ जाते हैं....'कलश १०९

पश्चांतवर्ती सभ टीकाकारऐं, सभी आचार्यो और आध्यात्म ग्रांथ लेखकों ने इसी मत की पुष्टि की। दोनों मतों में मान्य तत्वार्थ सूत्र में, उनके टीकाकारों ने भी शुभभाव से पुण्य बंध होता है इसे पुष्ट किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बर मत में अशुभ से शुभ, तुलनात्मक दृष्टि से अभीष्ट और कारणीय माना। धूप से छाया में खरा रहना बेहत माना। आगे सामग्री का पंचेन्द्रिय विषयों की पूर्ति में स्वयं (कुटुम्बियों) के लिए उपयोग-उपयोग करने की अपेक्षा दान देना बेहतर पुण्य उपार्जन माना। पाप से पुण्य बेहतर माना। अशुभ से हटा अत: उसका बंध ठकने से संवर भी माना।

स्थानकवासी गत में शुभभाव से उत्पन्न पुण्य कर्म को नाव की उपमा दी और जैसे नाव किनारे तक ले जाने में सहायक हैं वैसे ही शुभकर्म से उपार्जित वज्रऋषमनाराच संहनन वाला शरीर मोक्ष तक ले जाने से सहायक है औरजैसे तट पर जाते ही नाव छोड़ देने पर ही स्थल पर पांव रखा जा सकते हैं वैसे ही उस शरीरादि को छोड़ने पर ही मोक्ष रूपी स्थल, सिद्धशिला पर आत्मा ठहरती है।

उपयोग आत्मा का लक्षण है। एक समय के लिए भी आत्मा उपयोग रहित नहीं होता है। उपयोग दो प्रकार का होता है अशुद्धोपयोग और शुद्धोपयोग । उपयोग जब आत्माकार होता है, आत्मा का उपयोग आत्मा में ही रहता है, आत्मा-आत्मा में रहत है - ठहरती तो वह आत्मा शुद्धोपयोग कहलाती है। शुद्धात्मा, सिद्धात्मा का यही स्वरूप है। संसारी आत्मा के सदा अशुद्धपयोग रहता है। इसके दो प्रकार है - अशुभ और शुभ। उपयोग जब 'पर' में जाता-रमता-ठहरता है तब अशुद्धोपयोग कहलाता है। 'पर के निर्मित बाहर में अनन्त होते है और जब तक आत्मा के (अनंतानुबंधी) मिथ्यात्व कर्म का उद्य रहता है तब तक ऐसे अशुभ भाव निरन्तर, प्रति समय, ऐसे रहते हैं कि आत्मा अनंतानुबंधी कषाय। राग में वर्तन करता है। मिथ्यात्व-दशा में भी कषायारग की मंदता होती है तब यह शुभभाव में रहता है जिससे पुण्यकर्म का बंध होता हैं, परन्तु साथ में मिथ्याल रहने से अनंत राग होने से भयंकर अशुभ भाव के कारण पाप का बंध भी होता रहता है।

मिथ्यात्व दशा में बंदे पुण्य-कर्म का उदय होने पर जीव चिन्तन मनन की क्षमता वाली गति-योनि-क्षमता में आत है और मिथ्यात्कर्म के क्षय, सम्यकत्व के उदय में जड़-चेतन, आत्मा-परमात्मा एवं पर का भेद ज्ञान कहलाता है। शुभ से शुभतर की उच्च श्रेणियों में चढ़ते-चढ़ते ऐसा अपूर्वभाव आता है कि सम्यक्त्व प्रकट हो जाती है।

सम्यक्त्व प्रकट होने पर भी असुभ शुभ दोनो भावों रहते हैं परन्तु अशुभ-रूपी कषाय । राग की हेयता दृढ़ हो जाने से ऐसा अशुभ भाव नहीं होता कि अनन्त से बंधन हो। अशुभ भाव घटता और शुभ भाव बढ़ता है। मिथ्यात्व दशा में होने वाले शुभ और सम्यक्त्व-दशा में होने वाले शुभ में अनन्तगुना अन्तर हो जाता है। जब अनुराग अज्ञानी, रागी, संसारी सो नहीं होता। ज्ञानी, वीतरागी और शुद्धात्मा का स्मरण-चिन्तन-मनन-गुजानुराध-गुजस्मरण-बहुमान-विनयभाव आता है। यह सहजभाव शुभतर, उत्कृष्ट, सातिश्य पुण्य उपार्जन करने वाला है।

प्रश्न हैं, सम्यक्तत्व प्रकट होने के बाद वह शुभभाव में रहना चाहता है या नहीं ? यदि शुद्ध सम्यक्टत्व प्रकट हुई है तो 'चाह' ही मिट जाती है। कोई इच्छा, आकांक्षा, मनोकामना, वासना, तृष्णा नहीं रहती। यदि प्रीति भाव संसार-कार्य करने की इच्छा रहती है तो गुरू/सदगुरू/आत्मा के दर्शन ही नहीं हुए यह माना जाएगा। अप्रत्यारव्यानावरजीत के उदय से तीव्रोद्य से घर-परिवार-संसार (शरीरादि) का कार्य करता है परन्तु उसमें अहंबुद्धि नहीं होती, किंचित मात्र भी राग करना नहीं चाहता, श्रेणी अनुसार जो रागसमता में हैं उसी के परिणाम स्वरूप रागादि होते हैं, करना नहीं है। अशुभ तो क्या शुभराग भी हेयानिकृष्ट/अनाचारणीय हो जाता है। यदि उसने परमात्वस्वरूप स्वात्मस्रूप जाना और माना है, उसी का दृढ़ता से श्रद्धाप्रतीति-सवसंवेदन है तो उसी शुद्दात्मस्वरूप का लड़प, मात्र मोक्ष का लक्ष्य हो जाता है।

समंतदंसी न करेई पावं सम्यंवदृष्टि पाप नहीं करता। दृष्टि पुण्य-पाप बंद से हटकर 'मुक्त' पर चली जाए और फिर भी इच्छापूर्वक शुभाशुभ करके पुण्य-पाप का बंध ही करता रहे यही नहीं होता।

सायवत्व प्रकट होने के बाद मिथ्यायाभाववृति नहीं होती, पूर्व कर्मो के संयोग से जो ब्रह्म में प्रवृत्ति होती है उसमें तादारम्य नहीं होता और ऐसा नहीं होता अर्थात् मिथ्याभाव वृत्ति (शुभाशुभ) नहीं टलती तो समझना कि सम्यक्त्व (या ज्ञान) हुआ ही नहीं है।

ज्ञान का क्षयोपशय हुआ है (अर्थात् जब तक अंशमात्र भी ज्ञानावरणीय शेष है), दर्शन-विशुद्धि पूर्णता पर नहीं पहुंची है (दर्शनावरणीय शेष है), अप्रत्यारव्यानावरणीय प्रत्यारव्यानावरणीय-संज्जवल कषाय, नाकेषाय अवशिष्ट है, अन्तराय कर्म टूटा नहीं है तब तक, छाती कर्मबंध है।' छाती का बंध 'है' ही नहीं, अशुभ भाव होने से छाती के बंध होता भी है। जब छाती कर्मो का बंध है तो अधानी (पुण्य-पापरुप) कर्मो का होना (विद्यामान होना) और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनका बंध होना भी निरंतर है, परन्तु क्या वह सम्यक ज्ञान सम्यक्दर्शनी इन शुभाशुभ प्रवृत्तियों (अशुभ और शुभ उपयोग) में जाना-रमणकरना-ठहरना चाहता है तो उत्तर होगा-नहीं।

सम्यक्त्वी के मिथ्यात्वनामाकर्म की निरन्तर निर्जरा है और शुद्धोयोगी को, शुद्धात्मस्वरूप का सकयं हो जाने से अवशिष्ट छाती का भी नाश करता है तब कषायाराग की मन्दता और बुद्धिगत मति श्रुत ज्ञान के कारण स्वतः/सहज ही पुण्यबंध होता है-करता नहीं, भावित्व नहीं, भोक्तृत्व नहीं, ज्ञातादृष्टा होता है। रागादि मात्र को, बंध मात्र को वह हेय कर चुका, हय में आए को भी वह ज्ञाता दृष्टाभाव से रहकर क्षय करता जाता है।

सम्यक्त्वी की दृष्टि में आश्रव और बंध हेम हो जाते हैं, संवर-निर्जरा-मोक्ष का ही लक्ष्य होता है और उत्तरोत्तर गुजस्थानों में वह प्रमाद का छोड़ अप्रमन्त अवस्था में धर्मध्यान में जाकर कर्मों की निर्जरा ही करना चाहता है। शुभ तथा अशुभ दोनों से परे मात्र शुद्ध उपयोग में निर्जरा होती है। सत्ता में अशुभ कर्मो का उदय होने से छाती का बंध भी होता है परन्तु क्षीण-क्षीण करता जाता है।

सम्यक्त्वी के प्रशस्त शुभ भाव होते हैं, बह्य में, पर में प्रवृत्ति करना ही नहीं चाहता है। 'कार्य की सरलता से भाव (मन) की सरलता से, वचन की सरलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करने से शुभनामकम के शरीर का प्रयोग बंध होता है। 'भगवती २१, ८, ३, ९ सरल (शुभ) परिणाम (भावों) से बंध ही होता है।

सम्यक्त्वी के प्रशस्त शुभ भाव होते हैं, बह्य में, पर में प्रवृत्ति करना ही नहीं चाहता है। 'कार्य की सरलता से भाव (मन) की सरलता से, वचन की सरलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करने से शुभनामकम के शरीर का प्रयोग बंध होता है। 'भगवती २१,८,३,९ सरल (शुभ) परिणाम (भावों में बंध ही होता है।

सम्यक्त्वी के सक्रय में थोड़ा होता है। जो भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष में स्थित अरिहंत, सिद्ध परमात्मा है, उनकी भक्ति में लीन होता है। अर्हत् भक्ति से लगाकर प्रवचन भक्ति और (धर्म) प्रभावता तक के बीस बोलों में से एकाधिक में इतना अधिक तत्लीन हो जाता है कि एक 'तू-ही-तू' की रटन हो जाती है' इस रसायन से तीर्थकर-कर्म-प्रकृति का बंध होता है। उत्कृष्ट तम प्रशस्त-राग से भी नामकर्म की प्रकृति (उत्कृष्टतम तीर्थंकर प्रकृति) का बंध होता है। (ज्ञाताधर्म कथा अध्याय ५ सूत्र ६४)

दूसरे रूप में आचार्य उमास्वाति ने १६ बोल दिए है, सम्यक्त्वी दर्शन विशुद्धि से लगायत प्रवचन वत्सलता तक किसी किन्ही बातों की साधना (शुभतम भाव से) करता है तो तीर्थकर प्रकृति का बंध करता है। (अध्याय ६ का २३१)

टीकाकार श्री उपाध्याय श्री केवल मुनि ने धर्मचिन्तन, गुरुवन्दन और उपदेश श्रवण को शुभ क्रिया माना है। शुभ अर्थातत् उत्कृष्ट/प्रशस्त शुभ जो बंधन का हेतु होता है।

अन्नादि दान भी शुभ है जिससे शांतावेदत्रय का बंध होता है, अनुकूल संयाम मिलते है- बाहर में स्वस्थ शरीर सुस्वर आदि, आज्ञानुवर्ती सन्तानें, प्रिय परिजन, विमुल धन मिलेगा धर्मचिन्तनादि भी शुभ की श्रेणी में है, परन्तुं ये उत्कृष्टम हैं। आत्मा के धर्म (स्वभाव) का चिन्तन, पूर्णात्मा के गुणों का चिन्तन,पूर्णात्मा के गुणों का चिन्तन, उनके द्वारा बताए मोक्ष-मार्ग का निंतन श्रवण करता है। इससे सातिशय पुण्य का बंध होगा। जितना-जितना उसमें तन्मय होगा, उतना-उतना उत्कृष्ट अर्थात् अनुयाग बंध अधिक और स्थिति बंध कम होगा। बंध का फल आएगा - तीर्थप्रभु का सानिध्य, उपदेश श्रवण, गुरू का समागम, आत्मचिन्तन आदि। ये आत्मा का शुद्धोपयोग में ले जाने के लिए उत्कृष्ट भूमि प्रदान करते हैं, परन्तु इन्हें (सब बाह्य प्रवृत्तियों को) बंध कहा है। चाहे तीर्थंकर-परमात्मा का शुद्धात्म स्वरूप ही तड़प में हो। आलंबन 'पर' का ही है और जब तक 'पर' से जुड़ा है, 'स्व' याने स्वात्मा से नहीं जुड़ा और इसी कारण निर्जरा और मोक्ष नहीं होता। चौदह पूर्वधारी चार ज्ञान के धारक मौसम-गजधर भी तीर्थंकर प्रभु महावीर को छोड़ते हैं तब केवल ज्ञान होता है।

तीर्थंकर नाम कर्म उत्कृष्ठतम है पर है तो बंधा उसे भोगना पड़ता है। आधाती कर्मेड़ की यही विशेषता है कि भागने से, वेदन करने से निर्जरित होते हैं।

अशुद्ध के साथ शुभभावों को भी तत्वार्थ सूत्रकार ने आश्रवद्वार में लिया है। इनसे बंध माना है।सानावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय एक अपेक्षा से, हास्य, रति, प्ररुषवेद, शुभ आय, शुभ नाम और शुभ गोत्र में आठ पुण्य प्रकृतियाँ है। विस्तार की अपेक्षा ये ४२ प्रकार की कही गई हैं। इन पुण्य प्रकृतियों का बध से भी आत्मा को छूटना पड़ता है। फिर चाहे वे उत्कृष्ट रुपवाली हो जा स सातवेदनीय, उच्च गोत्र, मनुष्य गति, पंचोन्द्रिय जाति, वज्रऋषभनार चसंहनन, समचतुरख संस्थान, तेजस्विता, शुभ विहायोगत, सुभगनाम,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुस्वरनाम, आदेयनाम, यशोकीर्तिनाम, तीर्थंकर नाम ये बंध हैं और इनसे छूटे बिना मोक्ष नहीं है। यह अवश्य है कि इन्हें निर्जरित करने के लिए उस पुण्यात्मा को कुछ करना नहीं पड़ता, उदय में आती हैं, वेदन होता है और खिर जाती है। आत्म-स्वरूप प्रकट करने में, आत्मानन्द के भोग में ये आड़े आती।

उदाहरण, सिर पर अंगारे-रूप अनंत वेदना (असातावेदनीय का अग्रतम रूप) होते हुए भी अनंत आत्मसाधना, केवलज्ञान केवलदर्शन और मोक्ष होता है। पुण्य या पाप की अघाती कर्म प्रकृतियां कहां बाधा दे रहा है।

धातीकर्म आत्मा के स्वरूप को आवरित करते हैं, पूर्जानन्द में बाधा पहुँचाते हैं। उनका का अंश मात्र भी शेष रहे तो केवल ज्ञान-केवल दर्शन अटका रहता है। अधाती कर्म इस अर्थ में अधाती हैं कि स्वरूप का धात नहीं करते, स्वरूप चरण, अतीन्द्रिय-आनन्द, सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता में बाधक नहीं होते।

धाती कर्मों में सबसे विकराल मोहनीय हैं। (दर्शन) मिथ्यात्वमोहनीय तो आत्मस्वरूप का ज्ञान और मान ही नहीं देता और चारिममोहनीय वीतरगता (आत्मा का निजगुण) प्रकट नहीं होने देता। एक समय मे ७० कोटाकोटि सागरायम बंध करवा सकताहै। कितना भारी-भरकम? पहाड़-जैसा। पर सम्यक्तत्व की एक सुरंग और सम्पक्र ज्ञान का एक विस्फोट, क्षणमात्र में उस पहाड़ को उड़ा देता है। इसे भोगना ही पड़े, ऐसा नहीं है। आत्म-पुरुषार्थ से, ज्ञान से छाती कर्म टूट जाते हैं।

परन्तु कितना ही पुरुषार्थ कर लें, पूर्णज्ञानी अपना अनन्त आत्मवीर्य लगाएँ तब भी अधाती कर्मबंध अड़ वर्जित सातावदेनीय, उच्चगोत्र लगायत तीर्थंकर नाम प्रकृति का (पूर्व) क्षय नहीं कर सकते। भोगे छूटते है। प्रभु तीर्थंकर अरिष्टनेमि के सानिध्य में दीक्षा लेकर एक ही दिन में मुनि गजसुकुमाल के वत ज्ञ३नी केवलदशई होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। पर वे तीर्थकर चाहे (चाह तो रहती ही नहीं) तो भी सिद्धशिला पर, आयव्यकर्म आदि चारों आघाती कर्म भोगे बिना नहीं जा सकते।

(द्रव्य) मुक्तावस्था के बाधक हुए। स्वरूपानंद में कोई बाधा नहीं देते यह निश्चित है। इसीलिए इन्हें अघाती कहा। आयुव्य स्वत: पूरा हो जाता है। उसके सात ही नाम, गोम, वेदनीय भी पूरे हो जाते हैं। ये सब स्वत: पूरे होते हैं। सातावेदनीय कभी अधिक शेष रह जाय जो आयुव्य पूरी होते न रखयें तो केवली समुद्घात् करते हैं - ऐसा व्यवहार-कथन है, सब स्वतः होता है, प्रद्गत-कर्म स्वत: प्रद्गल-रूप, स्वशादि से परिणामित होते हैं।

तब प्रश्न है कि पुण्य उपार्जन करे या नहीं? पुण्य भी, सम्यक्त्व का स्पर्श होने के पूर्व तक जीव करता ही है। कर्म चेतना और कर्मफल चेतना में ही रहता है। ज्ञान चेतना जगने पर सम्यक्त्व होने पर, सम्यक्त्व-दशा में 'करना-करना' (कर्तृव्य-भोत्कृव्य) श्रद्धा में पूर्णत: हेम हो जाता है। श्रद्धा में मात्र 'होना' जो 'हूँ' वह जो जाऊँ,

बसा क्या हूँ ? देहाति नोकर्म से परे, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म से परे और रागदि (कषायादि) भाव कर्म से भी परे-शुद्ध, बुद्ध-मुक्त अनंत ज्ञानादि-गुजसम्पन्न, मात्र ज्ञाता-दुष्ट भावभातां शुद्धात्मा हूँ - वह जो जाऊँ । वही हो जाऊँ, मात्र होना है करना कुछ नहीं है। केवल होना है। यह पूर्ण श्रद्धा-यहीं पूर्ण प्रतीति सतत बनी रहना है सम्यक्त्व है। तब फिर वह न अशुभ में प्रवृत्त होना चाहेगा, न शुभ में। प्रवृत्ति नहीं मात्र निवृत्ति....निवृत्ति...निवृत्ति। प्रवृत्ति भी निवृत्ति हेतु।

अनन्त पुमअय उपार्जन पहले कर लिया तभी तो पर हम दुर्लभ मनुष्य-जन्म(मनुव्यता), पंचोन्द्रिय पूर्णता, उच्चमोत्र, उच्चनाम, उच्चकुल जिसमें महावीर के वीतराग-मार्ग, मोक्षमार्ग की आराधना का सुअवसर, अर्थात् जिनेश्वर भगवन्तों के गुणचिन्तन का अवसर, सदगुरू भगवन्तों से निश्रित जिनवाणी, आत्मा को कर्ममल से हटाने-धोकर शुद्ध करने वाली वाणी को भी सुलभता-दुर्लभ से दुर्लभतर वस्तुएँ मिल गई। किससे मिली अनन्त पुण्य, सातिश्य पुण्य से मिली। बुद्धि भी मिली, हिताहित का ज्ञेय-हेय-उपादेय को जानने, भेद करने, उपादेयत की आराधना करने की शक्ति-बुद्धि अर्थात् ब्राह्म अनुकूलताएँ भी मिल गई। किससे मिली अनन्त पुण्य, सातिशय पुण्य से मिली। बुद्धि भी मिली, हिताहित का ज्ञेय-हेय-उपादेय को जानने, भेद करने, उपादेयत की आराधना करने की शक्ति-बुद्धि अर्थात् ब्राह्म अनुकूलताएँ भी मिल गई। श्रद्धा और संयम का पुरुषार्थ अति-अति, महान् दुर्लभतम है पर उन्हें सुलभ करने की अनुकूल सामग्री तो मिल गई।

इतनी वियुलता गई कि (द्रषम) काल और इस (मरन) क्षेय में भी धर्मध्यान की उत्कृष्टम दशा (आठवें में प्रवेश की पूर्व स्थिति) लाने की सुलभता मिल गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्व के महान पुण्य से इतनी अनुकूलताएँ तो मिल चुकी हैं - अब सोचें कि अब और कौन सा पुय करें ? श्रद्धा और संयम की आराधना तो आत्मा को स्वयं करना है। आत्मा के ज्ञानादि अनन्त गुणों को प्रकट करना हैं तो वे भी आत्मा के ही ज्ञानादि गुणों से ही प्रकट होंगे।

सोचें कि अब ओर क्या करें, क्या बनें? चक्रवर्ती बनने का पुण्य करें। चक्रवर्ती बन जाएँ ओर कुछ विशेष कुरु, सभी चक्रवता छः खण्ड साधते हैं, मैं सातवां साधुं तो सातवी नारकी में जाता है। जीव साइक्षात् प्रभु तीर्थंकर के समोशरण में चला जाए पर उनके भीतर में रहे हुए अनन्त ज्ञानादि गुणों पर अन्रर दृष्टि नहीं हो और बाहर के (आठ महाप्रति हर्यादि) वैभव को देखकर, चमत्कृत, होकर वाह्-वाह् करता हुआ लोट आए तो, अनन्त (पूर्ण) पुण्य-उपार्जित किए (जिससे तीर्थंकर का सानिध्य मिला) वे भी निष्फल हो गए। बाहर में मिले हुए, पुण्य के फल स्वरूप सभी अनुकूल प्रसंग उपादन की अक्षमता (निर्बलता) से अफल हो जाते हैं। वे शुद्धतम निमित्ति भी काम नहीं आए।

४२ ही पुण्य प्रकृतियाँ आत्मसाधना नहीं करवा सकती, आत्मसाधना तो आत्म को ही, आत्म (के ज्ञानादि) द्वारा ही करना होगा और तब ये (पुण्य प्रकृतियाँ) निमित्त (सहायक) बनीं ऐसा कहा जाता है। उत्कृष्टतम तीर्थंकर नाम कर्म और वज्रभाषमनाराचसंहनन भी हों तो भी आत्मशुद्धि तो आत्म के ही ज्ञान-दर्शन-चरित्र गुणों से ही हो ही होगा।

शुद्ध निमित्त मिलें तो मैं भी शुद्ध बनूं ऐसा क्यों सोचें ? शुद्ध बनूं - ऐसा दृढ़ निश्चय करें तो तद्नुकूल निमित्त मिलेगा ही मिलेगा। निमित्त क्या कर सकता है ? मात्र 'ऊंगली दर्शन'। माँ बच्चे को ऊंगली के इशारे से ऊपर-आकाश में चन्द्रमा दिखाती है, बच्चा माँ और उसकी ऊंगली को देखना बंद करे तो चन्द्रमा दिखे। निमित्त की (पुण्य के फल से आए निमित्त की) आवश्यकता मात्र इतनी ही है, वह दिखाता नहीं, देखने में निमित्त बनता है, देखता व्यक्ति स्वयं है। ऐसे ही पुण्य प्रकृतिरूप जितनी अनुकूल साममियाँ हैं वे मात्र निमित्त हैं, कर्ता नहीं, कर्त्ता तो आत्मा स्वयं है, आत्म को ही आत्मारूप करना है और जब आत्मा ही अपने - ही - में - रहे - हुए अनन्त ज्ञानादि गुणों का कर्ता होता है, भोक्ता होता है तब सारे निमित्त बाहर तो जाते हैं (उनके बाहर हुए बिना अनन्त ज्ञानादि ग्रज सम्पन्नता आती ही नहीं है) जब आत्मा अपने ही ज्ञानादि गुणों का कर्ता-भोक्ता होता है तब आत्मा मात्र ज्ञाता दृष्टा होता है, न कर्ता न भोक्ता, मात्र होता है, अपने आप में होता है, मैं आप जो भी ऐसा होने का दृढ़ निश्चय करेंगे होना चाहेगें - अवश्य होंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org